

सामायिक की चार भावनाएँ

—प्रो. वीरसागर जैन

सामायिक के सन्दर्भ में इन चार भावनाओं की चर्चा बहुत होती है— मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ। लगभग सभी सामायिक पाठों में भी इनकी चर्चा आई है। सामायिक की इन चार भावनाओं में वास्तव में ही बहुत गहरा अर्थ छुपा हुआ है। आज हम उसी का कुछ विचार करना चाहते हैं।

सामायिक की इन चार भावनाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक अत्यधिक प्रसिद्ध है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!॥

यह आचार्य अमितगति द्वारा रचित ‘भावनाद्वात्रिंशतिका’ का प्रथम श्लोक है जिसे ‘भावना-बत्तीसी’ या ‘सामायिक पाठ’ के नाम से भी जाना जाता है। इसके अनेक हिन्दी-अनुवाद भी लोकप्रिय हैं। प्रथम श्लोक का एक हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

“प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो!
करुणास्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो!”

अथवा—

“हे देव! मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को।
मैत्री करे सब प्राणियों से गुणिजनों से प्रेम को ॥
उन पर दया करती रहे जो दुःखग्राह गृहीत हैं।
उनसे उदासी-सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥”

ध्यान से देखा जाए तो ‘भावना-बत्तीसी’ के उक्त श्लोक में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय समझाया गया है, जो एक तरह से पूरे नीतिशास्त्र का सार भी है। लगभग सारा नीतिशास्त्र इसी का विस्तार है। इसमें हमारे नित्यप्रति काम में आने वाला एक ऐसा व्यावहारिक मार्गदर्शन भी है जिसे अपनाकर हम अपना एवं अपने समाज का जीवन अच्छा बना सकते हैं।

दुनिया में अनेक प्रकार के लोग हैं। हम उन सभी के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं कर सकते। तो फिर किसके प्रति कैसा व्यवहार करें, यहाँ इसी की उत्तम भावना भाई जा रही है। यथा—

1. सामान्यतः सभी जीवों के प्रति — मैत्री भावना होनी चाहिए।
2. गुणी जनों के प्रति — प्रमोद भावना होनी चाहिए।
3. दुःखी जनों के प्रति — करुणा भावना होनी चाहिए।
4. दुर्जनों के प्रति — मध्यस्थ भावना होनी चाहिए।

इन चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन ‘भावना-बत्तीसी’ के अतिरिक्त अन्य भी अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य उमास्वामी ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ (7/11) में भी कहा है—

“मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।”

अतः इन पर हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए और फिर इसी के अनुरूप व्यवहार भी करना चाहिए। इससे सबका मंगल होता है।

1. मैत्री भावना— अर्थात् हे देव! मैं तीन लोक के सभी जीवों को अपना मित्र समझूँ, चार गति चौरासी लाख योनियों के समस्त जीवों को भी अपना मित्र समझूँ, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तक को भी अपना मित्र समझूँ। इसीप्रकार अरिहंत, सिद्ध आदि को भी अपना मित्र समझूँ।

मित्र समझने का अर्थ है कि सबको समान समझूँ, उनमें छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करूँ, क्योंकि मित्रता समानता के भाव में ही होती है, छोटे-बड़े के भाव में नहीं— ‘समानशीलेषु सख्यम्।’

सभी जीव वस्तुतः स्वभाव से एक समान ही हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। हम अज्ञानवश व्यर्थ ही लिंग, जाति, वर्ण, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों के आधार पर उन्हें छोटा या बड़ा मानकर बड़ी भारी गलती करते हैं; क्योंकि जब हम किसी को छोटा मानते हैं तो हमारे अन्दर अभिमानादि उत्पन्न होते हैं और हम उन्हें शोषित करते हैं, जिससे हमारा मानसिक-सामाजिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार का पतन होता है। तथा जब हम किसी को बड़ा मानते हैं तो हमारे अंदर दीनता, लोभादि के भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे भय, याचना आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। अतः सभी जीवों को समान मानना आवश्यक है। समान मानने से वीतरागता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मित्रता की भावना का अभिप्राय हुआ कि छोटे-बड़े के रूप में देखने की पर्यायदृष्टि छोड़ो और सभी को द्रव्यदृष्टि से समान देखो। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'प्रवचनसार', गाथा 93 में पर्यायदृष्टि जीव को मिथ्यादृष्टि (मूढ़) कहा है।

देखो आश्चर्य की बात कि आचार्यदेव तो हमें सब जीवों को समान/मित्र मानने की शिक्षा दे रहे हैं और हम हैं कि भाई-भाई में, मनुष्य-मनुष्य में, जैन-जैन तक में ही छोटे-बड़े की भावना कर रहे हैं, अपने ही भाई के प्रति शत्रु-जैसा व्यवहार कर रहे हैं। यह बड़े खेद की भी बात है।

अतः हमें चाहिए कि हम किसी को भी छोटा या बड़ा न समझें, सब जीवों को समान ही समझें, कभी भी किसी की उन्नति में ईर्ष्या न रखें, किसी के भी दुःख की कामना न करें और सभी के परम कल्याण की कामना करें। यथा—

1. “सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।”
2. “भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो।”
3. “सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे।”

पुनश्च, यहाँ जिसप्रकार छोटे-बड़े की भेद-भावना करने का निषेध किया गया है, उसीप्रकार अपने-पराये की भेद-भावना का निषेध भी घटित कर लेना चाहिए। क्योंकि तीन लोक में कोई भी जीव वास्तव में अपना या पराया नहीं है। सब अपने हैं, सब पराये हैं। विश्वप्रेम और वीतरागता में कोई अन्तर नहीं है। कहा भी है—

**“त्यक्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः।
नो चेद् कर्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः॥”**

सबको मित्र मान लेने पर क्रोध, मानादि भाव खत्म हो जाते हैं। मित्र से कैसा क्रोध, कैसा मान, कैसी ईर्ष्या आदि? मित्र मान लेने पर ऐसा नहीं हो सकता कि पड़ोसी की उन्नति हो और हमारा खून जले इत्यादि। इसप्रकार यह मैत्री भावना हमें घोर पापों से बचाती है और वीतरागता के मार्ग में लगाती है।

2. प्रमोद भावना— जो जीव गुणवान हैं; ज्ञान, चारित्र, तप, शील, विनय, करुणा, सत्य, संयम आदि गुणों से सम्पन्न हैं उनके प्रति हमारे हृदय में प्रमोद भावना होनी चाहिए। प्रमोद भावना होने से स्वयं के गुणी होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग किसी के गुणों की सराहना नहीं कर पाते, क्योंकि इसके लिए बड़ा हृदय होना आवश्यक है जो उनके पास नहीं होता। सर्वप्रथम तो इसके लिए उन्हें अपने में विद्यमान दोषों को भी छोड़ना नहीं तो कम से कम दोष के रूप में स्वीकारना तो अवश्य ही पड़ता है। यही लोग नहीं कर पाते। अपने दोषों को स्वीकारना भी तो शूरवीरता का काम है। दोष छिपाना सभी जानते हैं, परन्तु दोषों को स्वीकार करना और फिर उन्हें मिटाना कोई महावीर ही जानता है।

कितने ही लोग तो अपने दोषों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की दिल्ली अभी बहुत दूर समझना चाहिए। वे तो दोषों में ही स्थित रहने के कारण 'दुष्ट' कहे गये हैं। सज्जनों को उनकी संगति शीघ्र ही छोड़ देनी चाहिए।

इसीप्रकार कितने ही लोग दूसरों के गुण को 'गुण' के रूप में देखना तो दूर, अपितु दोष के रूप में ही देखते-कहते हैं। सोचिए वे कब सुधरेंगे? यथा— कितने ही लोग दूसरे के गुणों से ईर्ष्या भाव रखते हैं अथवा उनकी हँसी उड़ाते हैं, उपेक्षा करते हैं, निंदा करते हैं। विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में वे स्वयं उन गुणों को कब कैसे धारण

करेंगे? पुराण उठाकर देखें तो पता चलता है कि गुणीजनों की निन्दा करके आजतक इस जीव ने घोर पाप किया है और अपने आपको चिरकाल के लिए गुणप्राप्ति के मार्ग से कोसों दूर कर लिया है।

कितने ही लोग तो सभा में, शास्त्रसभा में गुणीजनों (साधु तक) की निन्दा करते हैं। वह घोर पाप का कारण है। कितने ही लोग तो गुणी जनों को नाना प्रकार से तिरस्कृत और पीड़ित करते हैं, उन पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, उनको शारीरिक-मानसिक कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक का उपाय रचते हैं। यह भी महापाप का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं गुणी बनने के लिए दूसरे गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव आना आवश्यक है। जबतक अपने दोषों के प्रति खेद और दूसरे के गुणों के प्रति प्रमोद की भावना हृदय में जागृत नहीं होती तब तक व्यक्ति दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण नहीं कर सकेगा।

3. करुणा भावना— जो जीव दुःखी है; शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि किसी भी प्रकार के दुःखों से परेशान है, उनके प्रति हमारे हृदय में करुणा की भावना होनी चाहिए। देखा जाता है कि कितने ही लोग दुःखी जनों की हँसी उड़ाते हैं अथवा उन्हें और अधिक दुःखी करते हैं। परन्तु ऐसा करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है, घोर पापबन्ध का कारण रचना है। कभी भूलकर भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। विकलांग आदि दुःखी जीवों की हँसी उड़ाने से हमें स्वयं भी आगामी जन्म में वैसा ही दुःख उठाना पड़ता है। अतः जैनधर्म समस्त दुःखी, दलितों, शोषितों के प्रति करुणा रखना सिखाता है।

इसीप्रकार कुछ लोग दुःखी जनों को देखकर ऐसा विचार करते हैं कि होंगे दुःखी, मैं क्या करूँ, मैंने कोई ठेका ले रखा है, इसमें मेरी क्या गलती है, सब अपने कर्मों से दुःखी हैं, भोगें अपने कर्मों की सजा; परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, इससे परिणाम कठोर एवं लोकनिन्द्य बनते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वयं तो दुःखियों की सहायता करते ही नहीं, यदि कोई दूसरा करे तो उसे भी रोकते हैं, रोकना चाहते हैं। यह अन्तराय कर्म के आस्रव-बन्ध का कारण है।

4. माध्यस्थ भावना— संसार में कुछ लोग अत्यन्त दुष्ट स्वभाव के होते हैं। हमें उनके प्रति रागपूर्ण या द्वेषपूर्ण कैसा भी व्यवहार – सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, उनसे कटु या मधुर कैसा भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। कटु सम्भाषण किया तो वे हमारा सिर फोड़ देंगे और यदि मधुर सम्भाषण किया तो हमारे सिर पर पैर रखने लगेंगे, अतः दुर्जनों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उनके प्रति न अच्छा व्यवहार करो, न ही बुरा।

देखा गया है कि कुछ लोग तो दुर्जनों (दुष्टों/कुपात्रों) को सुधारने के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर लेते हैं और कुछ उनका बुरा करने, उनको नष्ट/समाप्त करने के चक्कर में अपना घोर अहित कर लेते हैं, जबकि ये दोनों ही कार्य अनुचित एवं असंभव हैं। न तो दुर्जनों को सुधारा ही जा सकता है और न ही उन्हें दुनिया से नष्ट/समाप्त किया जा सकता है। अतः यहाँ उनके प्रति मध्यस्थ भाव रखने की भावना भाई जा रही है। जो लोग दुर्जनों को सुधारने के लिए उन्हें हित-शिक्षा देने लग जाते हैं, वे नहीं जानते कि यह उन्हें बहुत महँगा सिद्ध होता है, क्योंकि उस उपदेश से वे सुधरते नहीं, उल्टा उन्हें क्रोध ही उत्पन्न होता है। यथा—

“उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये ।

पयःपानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनम् ॥”

अतः सदा यही ध्यान रखना चाहिए कि—

“सीख दीजिए ताहि को, जाको सीख सुहाय ।

सीख न दीजे वानरा, घर बया को जाय ॥”

दुर्जन को शिक्षा देने की गलती करके अनेक सज्जन लोग भी बहुत कष्ट उठा चुके हैं, अतः यहाँ दुर्जनों से दूर रहने की अर्थात् उनके प्रति मध्यस्थ भावना रखने की कामना की गई है।

यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञानीजन दुर्जन के प्रति मध्यस्थभाव रखते हुए भी, उसे कोई हित-शिक्षा न देते हुए भी, उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं रखते, वह उनका बुरा करे तब भी, अपितु उसका भी शीघ्र कल्याण हो —ऐसी अंतरंग में शुभ भावना ही रखते हैं।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ दुर्जन को भी 'दुर्जन' संज्ञा हमने दी है, आचार्यदेव ने तो मूल श्लोक में मात्र 'विपरीतवृत्ति' जैसा उचित शब्द ही प्रयोग किया है— 'माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ'।

प्रश्न— उक्त चार प्रकार के जीवों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए— यह तो समझ में आया, परन्तु यह नहीं बताया कि जो हमारे शत्रु हैं उनके प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए।

उत्तर— संसार में कोई भी जीव वास्तव में शत्रु नहीं होता। ज्ञानी जन उसे जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो उसके प्रति भी प्रेम/मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और जब पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो 'विपरीतवृत्ति' होने के कारण मध्यस्थता का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उसके गुणों या दुःखों को देखकर उनके मन में प्रमोद या करुणा का भाव भी उत्पन्न होता है। ज्ञानी जन किसी को भी अपना शाश्वत शत्रु नहीं मानते।

प्रश्न— परिवार के लोगों के प्रति कैसी भावना होनी चाहिए?

उत्तर— वे भी उक्त चार प्रकारों में ही समाहित हो जाते हैं, उनसे अलग नहीं होते; अतः जो जैसा हो उसके प्रति वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए। हाँ, इतना तो होता है कि वे जैसे भी हैं, अपने परिवार के हैं— इस कारण उन्हें सन्मार्ग पर लगाने का भाव ज्ञानियों को भी आता है, वे युक्ति एवं स्नेह के आलंबन से ऐसा करने का प्रयास भी बहुत अधिक करते हैं; परन्तु बात न बने तो अधिक खेदखिन्न नहीं होते और उक्त चार प्रकार की भावना भाते हुए शान्ति धारण करते हैं।

उक्त चार प्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में यहाँ एक विशेष बात मुझे ऐसी भी प्रतीत होती है कि उन्हें हमें दो वर्गों में बाँटकर समझना चाहिए— 1. मैत्री भावना, 2. प्रमोद, करुणा, मध्यस्थ भावना।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे तो एक मैत्री भावना में ही सारी बात आ गई, परन्तु यदि हम वह न कर सकें, सबको सदा समान न समझ सकें तो दूसरे वर्ग के अनुसार ही भेदभावना करो, परन्तु अन्य कोई क्षुद्रतापूर्ण भावना कदापि न करो।



